सामयिक निबन्ध १

Occasional Paper 1

# वेद का अर्थ

# MEANING OF THE VEDA

जगन्नाथ वेदालंकार

Jagannath Vedalankar

राष्ट्रिय वेद विद्या प्रतिष्ठान

RASHTRIYA VEDA VIDYA
PRATISHTHAN

सामयिक निबन्ध १

Occasional Paper 1

# वेद का अर्थ

# MEANING OF THE VEDA

जगन्नाथ वेदालंकार

Jagannath Vedalaṅkar

*With Compliments*
*From*
Maharshi Sandipani Rashtriya
Veda Vidya Pratishthan, UJJAIN

RASHTRIYA VEDA VIDYA PRATISHTHAN

NEW DELHI

# राष्ट्रिय वेद विद्या प्रतिष्ठान

राष्ट्रिय वेद विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना अगस्त, सन १९८७ को हुई थी । अनेक कार्यक्रमों के अतिरिक्त वेदों के कण्ठपाठ परम्परा की रक्षा एवं वैदिक-ज्ञान के क्षेत्र में शोधकार्य को प्रोत्साहन देना भी प्रतिष्ठान के लक्ष्य के अन्तर्गत हैं । कुछ समय से सोचा जा रहा है कि बीच बीच में ऐसे महत्वपूर्ण शोधपत्र प्रकाशित किये जाने चाहिए जिनसे वेदों के रहस्य के प्रति नवीन दृष्टि उत्पन्न हों एवं वैदिक साहित्य से संबद्ध विभिन्न विषयों पर शोधकार्यों में सहायक हों । इसी भावना से प्रेरित हो कर प्रतिष्ठान ने विशिष्ट विद्वानों द्वारा लिखित सामयिक निबंध प्रकाशित करने की योजना बनाई है ।

हमें विश्वास है कि इस सामयिक निबन्धावली का प्रकाशन उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति करेगा ।

किरीट जोशी

## RASHITRIYA VEDA VIDYA PRATISHTHAN

The Rashtriya Veda Vidya Pratishthan was set up in August, 1987. The aims of the Pratishthan include, among other things, preservation of the oral Vedic tradition and promotion of research in Vedic knowledge. For quite some time, it is being felt that the Pratishthan should bring out important papers from time to time which might stimulate new insights into the secrets of the Veda and promote research in various themes connected with the Vedic literature. In response to this feeling, the Pratishthan has undertaken a programme of publishing papers written by eminent scholars.

It is hoped that the publication of this series will contribute towards the fulfilment of the above aim in view.

KIREET JOSHI

# वेद का अर्थ

*वेद—शब्दब्रह्म या ब्रह्म का शब्दमय रूप*

भारतीय या वस्तुत: आर्य मन इस विचार से परिपूरित है कि वेद शब्दब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्म का शब्दमय रूप है, और अतएव इतना विशाल और अनन्त है जितना स्वयं ब्रह्म। आर्यों का यह बद्धमूल विश्वास यजुर्वेद की एक प्राचीन व्याख्या तैत्तिरीय ब्राह्मण से प्रमाणित होता है। वहाँ हमें भरद्वाज मुनि की एक रोचक कथा मिलती है। उसमें कहा गया है कि उन्होंने मानव की सौ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त की और अपना सारा जीवन वेदों के अध्ययन के लिये अर्पित कर दिया किन्तु अध्ययन पूरा नहीं कर सके। अत: उन्होंने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से प्रार्थना की कि उन्हें अध्ययन जारी रखने और पूरा करने के लिये और सौ वर्ष की आयु दी जाय। ब्रह्मा जी ने सौ वर्ष की और आयु का वर दे दिया। परन्तु पूर्ण आयुष्य की यह दूसरी अवधि भी पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई। अत: ऋषि ने तीसरे पूर्ण आयुष्य की याचना की। ब्रह्मा ने उनकी सच्ची भक्ति, कठोर तपस्या और स्वाध्याय के लिये श्रमपूर्ण प्रयास से प्रसन्न होकर उन्हें अभीष्ट वर प्रदान कर दिया और मुनि एक बार फिर स्वाध्याय में मग्न हो गये किन्तु कार्य का अन्त कहीं दृष्टि में नहीं आया। तब मुनि के हृदय से सहसा यह वाणी स्फुरित हो उठी: "अनन्ता वै वेदा:" अर्थात् "नि:संदेह, वेदों का कोई अन्त नहीं।" यह कथा इस अन्तर्निहित अर्थ को सूचित करती है कि वेदों की इन व्याख्याओं, ब्राह्मणग्रन्थों के लेखक यह नहीं समझते थे कि सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान इन चार वेदों में ही समाविष्ट है। उनके अनुसार ये चार वेद तो मानों ईश्वरीय ज्ञान के विशाल, पर्वताकार स्तूप में से हमारे स्रष्टा ब्रह्मा द्वारा चुने हुए केवल चार मुट्ठी भर रत्न थे जो उन्होंने सृष्टि के वर्तमान युग के लिये आवश्यक ज्ञान के रूप में मानवता को दे दिये।

*वेद:सनातन और अनन्त ज्ञान*

दूसरे शब्दों में, वेद संख्या की दृष्टि से चार ग्रन्थों तक या ग्रन्थों की किसी भी संख्या तक सीमित नहीं। वास्तव में, अन्य धर्मों के अनुयायी, उदाहरणार्थ,

ईसाई, मुसलमान, सिक्ख और पारसी यह मानते है कि ईश्वर ने अन्तः-प्रेरित ज्ञान दिव्य आदेश-पट्टिका या ग्रन्थ के रूप में दिया। परन्तु वेद, अतिप्राचीन परम्परा के अनुसार, अनन्त और सनातन ज्ञान है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से वेद शब्द का अर्थ है साक्षात्-अनुभवरूपी ज्ञान। यदि वेद शब्द है तो वह लिखित नहीं भाषित शब्द है, या अधिक यर्थाथ रूप में, श्रुत शब्द, श्रुति है, जिस नाम से इसे पुकारा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वेद की भाषा भी स्वयं अमानवीय या अपौरुषेय स्रोत से उद्भूत हुई है। श्री अरविन्द ने कहा है: ''स्वयं वेद की भाषा भी श्रुति है, एक ऐसी लयबद्ध वाणी है जो बुद्धि से नहीं रची गई वरन् सुनी गई है, एक दिव्य शब्द है जो अनन्त में से स्पन्दन करता हुआ उस मनुष्य के अन्तःश्रोत्र में प्रविष्ट हुआ जिसने अपने आपको पहले से ही अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।''[१] इससे यह परिणाम निकलता है कि दिव्य शास्त्र वेद अमित, असीम और अनन्त है। अनिर्वचनीय उद्गमों से प्रादुर्भूत होकर यह ऋषियों के हृदय में प्रवेश करता और व्याप्त हो जाता है। इसी सत्य की व्याख्या श्री अरविन्द ने एक और ढंग से भी की है। ''योगसमन्वय'' (The Synthesis of Yoga) में वे लिखते हैं: ''पूर्णयोग का परम शास्त्र है प्रत्येक विचारशील एवं सचेतन मनुष्य के हृदय में प्रच्छन्न सनातन वेद। सनातन ज्ञान और सनातन पूर्णता का कमल हमारे अन्दर एक बन्द और संवेष्टित कली के रूप में विद्यामान है। वह शीघ्र या धीमे-धीमे एक-एक पंखुड़ी करके खिलता है,...।''[२] श्री अरविन्द का यह कथन इस परम्परागत विश्वास को पुष्ट करता और प्रश्रय देता है कि वेद कोई ग्रन्थ नहीं, वरन् सनानत और अनन्त ज्ञान है जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अन्तर्निहित है।

### *वेद का अर्थ है सच्चिदानन्द का ज्ञान*

यह विश्वास ''वेद'' शब्द की व्युत्पत्ति से भी पुष्ट होता है। यह शब्द ''विद्'' धातु से बना है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि तीन विभिन्न गणों के अनुसार इस

१. श्रीअरविन्द, १० : ८
२. श्रीअरविन्द, २० : ४७

धातु के तीन अर्थ बताते हैं। चतुर्थ गण में विद् का अर्थ है होना या अस्तित्त्व रखना, विद सत्तायाम् ; दूसरे गण में इसका अर्थ है जानना या सचेतन या सज्ञान होना, विद ज्ञाने; छठे गण में इसका अर्थ है प्राप्त या उपलब्ध करना, विद्लृ लाभे। ''विद सत्तायाम्'' से निर्मित वेद शब्द का अर्थ होगा सत्ता या अस्तित्व अर्थात् वेदान्त के सच्चिदानन्द का सत्। यदि इसकी व्युत्पत्ति ''विद ज्ञाने'' से की जाय तो इसका अर्थ होगा वेदान्त के सच्चिदानन्द की चित् या चेतना, और फिर ''विद्लृ लाभे'' से व्युत्पन्न इस शब्द का अभिप्राय होगा उच्चतम लाभ या उपलब्धि, अर्थात् वेदान्त के सच्चिदानन्द का आनन्द, क्योंकि आनन्द परमोच्च लाभ है, पुरुषार्थ से प्राप्त करने योग्य उच्चतम वस्तु है, जैसा कि ज्ञानियों ने ठीक कहा है : ''आनन्दान्न परो लाभ:'' अर्थात्, आनन्द से अधिक महान् और कोई लाभ नहीं। इस प्रकार वेद शब्द तीन धातुओं के तीनों अर्थों को अपने में मिलाकर सत्-चित्-आनन्द इस अर्थ को सूचित करता है। अतएव, व्युत्पत्ति की दृष्टि से वेद वह सनातन ज्ञान है जो सच्चिदानन्द के अपने सारभूत स्वरूप को और उसकी अभिव्यक्त सृष्टि के स्वरूप, विकासशील विश्वप्रकृति और विश्व-व्यापार को हमारे समक्ष प्रकट करता है।

### *वेद का प्रतिपाद्य विषय*

जब हम वेद के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि इस पर विविध सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु हम अपने को श्री अरविन्द के दृष्टिकोण तक ही सीमित रखेंगे जो दृढ़तापूर्वक अपने प्रत्यक्ष आत्मानुभव पर आधारित है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना रोचक होगा कि वेदों का अध्ययन आरम्भ करने से पहले ही उन्हें कतिपय वैदिक देवताओं का साक्षात्कार हुआ, उन्होंने उनके व्यक्त रूपों का दर्शन किया, उनके स्वरूप और व्यापार के विषय में उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई और अन्त:प्रेरणा के द्वारा उनके नामों के प्रतीकात्मक अर्थ का ज्ञान प्राप्त हुआ। जब वे भारतीय योग की विधि से आत्मविकास की कुछ पद्धतियों का अनुसरण कर रहे थे तब उनके मन में कतिपय प्रतीकात्मक नाम स्फुरित होने लगे। वे उनकी कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बन्ध रखते थे जो उन्हें साधना के समय नियमित रूप से होती थी। उन अनुभूतियों में ''...

इडा, सरस्वती और सरमा नामक तीन स्त्रीलिङ्गी शक्तियों के प्रतीक भी मेरे समक्ष प्रकट हुए। ये पृथक्-पृथक् अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि की चार शक्तियों में से तीन को स्वत:प्रकाश, अन्त:प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान को निरूपित करते थे। इनमें से दो नामों के विषय में मैं यह भी भली-भाँति नहीं जानता था कि ये वैदिक देवियों के नाम हैं बल्कि मेरे मन में ये प्रचलित हिन्दुधर्म या प्राचीन पौराणिक गाथा से सम्बद्ध थे, सरस्वती को मैं विद्या की देवी समझता था और इडा को चन्द्र वंश की माता। किन्तु सरमा से मेरा पर्याप्त परिचय था। तथापि मेरे अन्त: करण में उसकी जो आकृति प्रकट हुई उसके और वेदोक्त देवशुनी (स्वर्ग की कुक्कुरी) में बीच के किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सका। मेरे स्मृतिपटल में देवशुनी ग्रीक देवी आर्गीव हेलेन् के साथ सम्बद्ध थी और केवल स्थूल उषा[१] के रूपक को सूचित करती थी।...."

किन्तु कालक्रम में उन्हें यह तीन देवियों और साथ ही दक्षिणा देवी के स्वरूप का साक्षात् अन्तरनुभव हुआ। उन्होंने बताया कि ये देवियां " ...ऋत या सत्य-चेतना की चार शक्तियों को द्योतित करती हैं,—इडा सत्य-दृष्टि या स्वत:प्रकाश की द्योतक है, सरस्वती सत्य श्रवण, अन्त:प्रेरणा एवं दिव्य वाणी की, सरमा अन्तर्ज्ञान की और दक्षिणा विवेचनात्मक विवेक की।"[२] प्राचीन भारतीय परिभाषा के अनुसार, इडा है दृष्टि, सरस्वती श्रुति, सरमा स्मृति और दक्षिणा स्मार्त विवेक।

इस प्रकार हमने देखा कि वेद के अध्ययन से भी पहले उन्हें वैदिक देवियों का दर्शन हुआ और उनकी अपनी अन्तर्दृष्टि की कसौटी ने इनके प्रतीकात्मक स्वरूप को उनके समक्ष प्रकट करने में उनकी सहायता की। यह सब वैसे ही हुआ जैसे मानव सृष्टि के आदिकाल में ऋग्वेद, यदुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्र क्रमश: चार महर्षियों, अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के हृदयों में प्रकाशित हुए। अतएव, श्री अरविन्द के अन्त:करण में वेदों का जो गुह्य अर्थ प्रकट हुआ वह उनके स्वानुभव के प्रमाण की ठोस पृष्ठभूमि पर आधारित है।

१. श्रीअरविन्द, १० : ३४
२. श्रीअरविन्द, १० : ६८

परिणामतः उन्होंने वेदमन्त्रों की व्याख्या और भाष्य करने की जो पद्धति विकसित की है वह अत्यन्त प्रामाणिक और निर्दोष है और है, अपने क्षेत्र में, पावन शास्त्र के उपयुक्त ।

एक और प्रसंग में उन्होंने स्वयं स्पष्टतया कहा है कि "श्रीकृष्ण ने मुझे वेदों का वास्तविक अर्थ दर्शाया है, इतना ही नहीं अपितु उन्होंने मुझे नया भाषाविज्ञान भी दर्शा दिया है जो मानव भाषा की प्रक्रिया और उद्गम को दिखलाता है जिससे नये निरुक्त की रचना की जा सकती है और उस पर वेद की नई व्याख्या को आधारित किया जा सकता है। उन्होंने मुझे उपनिषदों में विद्यमान उस सब कुछ का अर्थ भी दिखला दिया है जिसे भारतीय या योरुप निवासी दोनों ही नहीं समझते ।"[१]

### *श्री अरविन्द की व्याख्यापद्धति*

तो फिर श्री अरविन्द द्वारा विकसित की गई व्याख्यापद्धति क्या है और उनकी पद्धति का अनुसरण करने से जो रहस्यमय अर्थ प्रकट होता है वह क्या है? भारतीय परम्परा तीन विभिन्न विधियों को स्वीकार करती है जिनसे वैदिक सूक्तों की व्याख्या की जा सकती है:—आध्यात्मिक अर्थात् आन्तरिक, अध्यात्म-विषयक; आधिभौतिक अर्थात् बाह्य, भौतिक, और आधिदैविक अर्थात् देवताओं से संबद्ध । यह तीन विधियों से उपलब्ध तीन प्रकार के अर्थ भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कहलाते हैं। श्री अरविन्द इनमें से पहली पद्धति को, अर्थात् आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, आन्तरिक या यौगिक विधि को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और इससे प्राप्त अर्थ को वेदों का सच्चा अभिप्राय और सारतत्त्व मानते हैं।

### *वेद-व्याख्या की चार पद्धतियाँ*

इन तीन पद्धतियों के अतिरिक्त एक चौथी भी है जिसे यूरोपीय विद्वानों ने प्रवर्तित किया है। वे वेदों पर बौद्धिक दृष्टि से विचार करते हैं और वैदिक सूक्तों

१. श्रीअरविन्द, २७ : ४३३, ४३४

तथा भाष्यों का विवेचन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहते हैं और इसके लिये तुलनात्मक धर्म और भाषाविज्ञान की सहायता लेते हैं। यद्यपि वे सामान्यतया वैदिक सूक्तों की स्तुति करते हैं तथापि कुछ-एक चुने हुए विद्वानों को छोड़कर प्राय: सभी उन्हें "आदिकालीन और अभी तक बर्बर जाति की याज्ञिक कर्मकाण्ड की रचना का" नाम देने में प्रवृत्त होते हैं।

कर्मकाण्डियों के पास समीक्षा की इस पद्धति का कोई उत्तर नहीं। इसके विपरीत, वे रीति-रिवाजों और यज्ञिय क्रिया-कलाप पर अतिशय बल देकर और इस प्रकार इस प्राचीन ज्ञान-सम्पदा के उच्चतर और गंभीरतर आशय की उपेक्षा कर विदेशियों द्वारा किये गये ऐसे सभी आक्रमणों को अचेतन रूप से अपना समर्थन ही प्रदान करते हैं। श्री अरविन्द तो इस विषय का साङ्गोपाङ्ग परिशीलन और समीक्षात्मक विश्लेषण करने के पश्चात् अपने आध्यात्मिक अनुभव से आविष्कृत सत्य को निष्पक्ष रूप से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं : "सायण के द्वारा स्वीकृत कर्मकाण्डीय पद्धति अपने बाह्य रूपों में बनी रह सकती है; यूरोपीय विद्वानों द्वारा आविष्कृत बाह्य-प्रकृति-सम्बन्धी अर्थ अपनी सामान्य परिकल्पनाओं में स्वीकार किया जा सकता है; पर उनके पीछे वेद का वास्तविक और रहस्यमय अर्थ सदा ही विद्यमान रहता है, जो अभी तक छिपा हुआ है:—जिसे वेद में निण्या वचांसि, रहस्यमय वचन कहा गया है जो वचन पवित्र आत्मा वाले और ज्ञान में प्रबुद्ध पुरुषों के लिये कहे गये थे।"[१]

### *देवताओं का आध्यात्मिक एवं प्रतीकात्मक स्वरूप*

किन्तु वेदों का सच्चा अर्थ समझने का यत्न करते हुए हम जो भी विधि चुनें उसके लिये सबसे पहले वैदिक देवताओं के स्वरूप को समझना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वेदों की आन्तरिक, आध्यात्मिक व्याख्या में देवता वैश्व प्रकृति में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ हैं अर्थात् वे सार्वभौम संकल्प, सार्वभौम मन की शक्तियाँ हैं और अन्य वैश्व, सर्वव्यापी शक्तियाँ हैं जिनकी सहायता से विश्व-प्रकृति हमारे अंदर और बाह्य जगत् में अपना कार्य करने में समर्थ होती

१. श्रीअरविन्द, १० : ६

है। श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थ The Secret of the Veda (वेदरहस्य) के Selected Hymns (सूक्तरत्न संग्रह) नामक द्वितीय भाग में देवताओं की इन सार्वभौम शक्तियों के आन्तरिक स्वरूप और कार्यव्यापारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसमें उन्होंने परम्परागत भाष्यकारों की शैली से विभिन्न देवताओं के तेरह सूक्तों की व्याख्या की है। इन प्रकाशपूर्ण व्याख्याओं से हमें ज्ञात होता है कि अग्नि उस शक्ति का आधारभूत तत्त्व है जो मनोविज्ञान में "संकल्पशक्ति" के नाम से प्रसिद्ध है, यद्यपि श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थ में उसे अधिक व्यापक एवं विस्तृत अर्थ प्रदान कर दिया है। "अग्निदेवता संकल्पशक्ति का अधिष्ठातृदेव है, भागवत संकल्पशक्ति या सार्वभौम संकल्पशक्ति है।" इसी प्रकार इन्द्र दिव्य मन का अधिपति है, ईश्वरीय मन है, वही चेतना की ज्योति प्रदान करता है। मरुत-नामक देवगण इन्द्र की सहायक शक्तियाँ हैं और इस प्रकार वे विचार-शक्तियाँ और प्राण-शक्तियाँ हैं जो दिव्यमन की सहायता करती हैं। सूर्य दिव्य सत्य का सूर्य है और उषा दिव्य प्रकाश, दिव्य चेतना और दिव्य ज्ञान का प्रभात है। युगल भ्राता अश्विदेव पुराणों के अश्विनीकुमार, आनन्द के अधिपति हैं। सोम आनन्द और अमरता का अधिष्ठातृदेव है। इस प्रकार उपलब्ध मनोवैज्ञानिक संकेतों का अनुसरण करते हुए श्री अरविन्द ने प्राचीन वैदिक देवों में से बहुतों के प्रतीकों को पर्याप्त स्पष्ट किया है। इनमें से प्रत्येक का विशिष्ट व्यक्तित्व है, एक ऐसा आकार है जो अन्य किसी का नहीं है और यदि साधक उस पर सच्चाई के साथ चित्त को एकाग्र करे तथा उसका ध्यान करे, तो वह उसके सम्मुख व्यक्त और प्रकट होकर उसकी सहायता कर सकता है। ये देवता परम प्रभु की केवल अमूर्त शक्तियाँ या आकृति-हीन विचार-शक्तियाँ ही नहीं हैं, बल्कि ये परमात्मा की ऐसी शक्तियाँ हैं, जो देहबद्ध रूपों में प्रकट होती हैं और मनुष्य तथा विश्व दोनों में सुनिश्चित एवं विशिष्ट उद्देश्यों के लिये कार्य करती हैं।

### *वेद के कुञ्जीभूत शब्द और उनके अर्थ*

देवों और देवियों के स्वरूप के आध्यात्मिक गूढ़ार्थ का ज्ञान वेद-मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रवेश के लिये अनिवार्य कुंजी है। इसके अतिरिक्त, वेद में कुछ ऐसे

शब्द हैं जो लोक-प्रचलित प्रयोग एवं अर्थ से बिलकुल भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दों के गुप्त अर्थ वेद के रहस्य तक पहुँचाने वाले बन्द द्वारों को खोलने के लिये एक और कुंजी प्रदान करते हैं। अपने कथन को स्पष्ट करने के लिये हम उदाहरण के रूप में कुछ शब्दों का उल्लेख करते हैं। वेद में गो, अश्व, घृत, आपः—ये शब्द पुनः पुनः आते हैं। वे सांकेतिक और प्रतीकात्मक हैं। और फिर वहाँ ऋत, वन, घी, रत्न, रयि, राधस्, क्रतु, श्रवस्, कवि—ये शब्द भी आते हैं जिनके अनेक अर्थ हो सकते हैं। परन्तु श्री अरविन्द का मत है कि इन बीजरूप शब्दों में से प्रत्येक का वेदों में एक सुनिश्चित अर्थ होना चाहिए जिससे हम उनकी गुह्य व्याख्या के अनुरूप सुसंगत अर्थ पर पहुँच सकें। श्री अरविन्द का यह विचार उनके अपने चैत्य-आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित है और सतत रूप से स्वयं वेदमन्त्रों की अन्तः-साक्षी की ओर संकेत करता है। इस प्रकार, श्री अरविन्द के मत में, "गो" शब्द सर्वत्र, बिना अपवाद के, दिव्य प्रकाश को द्योतित करता है; "अश्व" शब्द सभी स्थलों में आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है। घृत मन की स्पष्टता या मन की निर्मल ज्योति को, विशद मानसिक चेतना को सूचित करता है। "आपः" शब्द जो साधारण संस्कृत में जल की धारा का वाचक है, वेद में सत्-चित्-आनन्द की वृष्टि, सचेतन सत्ता की बौछार, "भगवान् के प्रचुर ऐश्वर्य की वर्षा", सनातन दिव्य सत्ता से सत्य, चैतन्य और आनन्द का वर्षण-रूपी आध्यात्मिक अर्थ रखता है। "ऋत" शब्द दिव्य सत्य का बोधक है। "वन" शब्द आनन्द का अर्थ द्योतित करता है। "रत्न, रयि, राधस्"—जो परिपूर्णता और समृद्धि के सूचक हैं, वे सभी आनन्द की परिपूर्णता की ओर संकेत करते हैं, "क्रतु" है संकल्प-शक्ति, "श्रवः" है अन्तःप्रेरणा का अन्तःश्रवण, अन्तःश्रुत ज्ञानमय शब्द। "कवि" शब्द आन्तरिक अर्थ में अन्तर्दृष्टि के स्वामी ऋषि को सूचित करता है। श्री अरविन्द दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि यदि वेद के कुछ विशेष पारिभाषिक शब्दों के आन्तरिक अर्थ ध्यानपूर्वक निश्चित कर दिये जायँ तो वे संपूर्ण विशाल वैदिक साहित्य में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किये जा सकते हैं। वास्तव में वेद में सर्वत्र उनका सुसंगत रूप में प्रयोग करना होगा अन्यथा असंगति एवं सतत दुर्व्यवस्था का कोई अन्त नहीं होगा, और हमारी मूर्खता का फल होगा विफलता!

ऐसी दुर्व्यवस्था का प्रत्यक्ष उदाहरण है वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य का भाष्य। महापण्डित सायण, जिनका भाष्य सचमुच में उनका स्मारक है, कर्मकाण्डीय या बाह्य व्याख्या की ओर प्रबल पूर्वाग्रह के साथ झुके हुए थे। वैदिक रीति-रिवाजों और यज्ञों के अनुष्ठान के उपयुक्त व्याख्या करने के लिए कटिबद्ध वे एक ही शब्द का विभिन्न मंत्रों में भिन्न-भिन्न अर्थ करते थे। उदाहरणार्थ, उन्होंने एक सरल शब्द ऋत का अर्थ दो पृथक्-पृथक् मन्त्रों में जल और यज्ञ किया है।[१] फिर एक अन्य स्थल में वे तर्क करते हैं कि यह शब्द ''ऋ'' (गति करना) इस धातु से कर्मवाच्य में भूतकाल के अर्थ में ''क्त'' प्रत्यय करने से बना है और इसलिये इसका अर्थ है ''गया हुआ''।[२] और यह उन्होंने ''क्रियाशील सत्य, सही'' इन प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अर्थों से बचने के लिये किया है। जब किसी स्थल में कोई भी बाह्य अर्थ ठीक नहीं बैठता तो वे पूर्वाग्रह के होते हुए भी आध्यात्मिक अर्थ करने के लिये विवश हो जाते हैं। ऐसे पक्षपातों और पूर्व-धारणाओं के साथ वेदों का अध्ययन करना और गुह्य धर्मशास्त्र एवं दिव्य ज्ञान के पवित्र, ग्रन्थ के साथ ऐसा स्वेच्छाचार-पूर्ण व्यवहार करना उसके सच्चे अर्थ की खोज में सहायक नहीं हो सकता।

### *दयानन्द : गुप्त अर्थ की कुंजी के प्रथम प्रदाता*

श्री अरविन्द ने वेद के कुञ्जी-शब्दों के जो आध्यात्मिक अर्थ देखे वे व्याकरण और व्युत्पत्तिशास्त्र की कसौटी पर समान रूप से खरे उतर सकते हैं। वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक हैं, न रूढ़ और न योगरूढ़। स्वामी दयानन्द भी मूर्त, आध्यात्मिक दर्शन और अनुभव पर प्रतिष्ठित होकर उनकी व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या ही करते हैं। दयानन्दजी का हमपर जो ऋण है उसे श्री अरविन्द भी स्वीकार करते हैं। अपने ग्रन्थ बंकिम-तिलक-दयानन्द में वे कहते हैं : दयानन्दजी ने हमें वेद के अर्थ को अनावृत करने की कुंजी दी है। यह कुंजी यौगिक व्याक्या की कुंजी के सिवा और कुछ नहीं। वही इस अत्यन्त प्राचीन धर्मशास्त्र के गुह्य अर्थ को खोल सकती है।

१. ऋ. १.१३४.१०, १.६५.५
२. ऋ. १.६५.२

कुछ विशेष शब्दों के यौगिक अर्थ के आधार पर वैदिक देवों और देवियों के आध्यात्मिक स्वरूप और कार्य-व्यापार का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। अब आगे हमें जिस मार्मिक प्रश्न पर विचार करना है वह यह है कि यदि हम इस व्याख्या-पद्धति का अनुसरण करें तो हमें वेद से क्या ज्ञान या शिक्षा प्राप्त होती है?

### *गुह्य अर्थ की परम्परा*

श्री अरविन्द वैदिक और पूर्व-वैदिक कालों में गुह्य सम्प्रदायों और गुह्य ज्ञान का अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं जैसा कि हमें मिश्र और यूनान देश में भी देखने में आता है। अपने ग्रन्थ "गुह्याग्नि की स्तुति" Hymns to the Mystic Fire में वे लिखते हैं: "...नि:संदेह प्राय: सर्वत्र रहस्यमयता का एक युग रहा है जिसमें गम्भीरतर ज्ञान और आत्मज्ञान रखनेवाले लोगों ने अपने अभ्यास-साधन, अर्थपूर्ण विधि-विधान तथा प्रतीकों की स्थापना की थी एवं अपने अपेक्षाकृत आदिकालीन, बाह्य धर्मों के अन्दर या उनकी एक सीमा पर गुह्यविद्या को रखा था। इस रहस्यवाद ने भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप धारण किया। यूनान में और्फिक तथा एलुसीयिन रहस्य थे, मिश्र और खाल्दिया में पुरोहित तथा उनकी गुह्य विद्या थी और जादू थे, फारस में मागी और भारत में ऋषि थे।" —भूमिका (Foreword p. 3-4) "...वेदविषयक यह परम्परा कि प्राचीन वेद की ऋचाओं में गुह्य अर्थ और रहस्य ज्ञान निहित है इतनी पुरानी है जितना स्वयं वेद" (वही, पृ. ५)

### *चतुर्विध गुह्य ज्ञान*

गुह्य अर्थ और रहस्यमय ज्ञान जो लुप्त हो चुके थे श्री अरविन्द की व्याख्या-पद्धति का अनुसरण करके फिर से खोज लिये गये हैं, वह पद्धति निरन्तर उनके साक्षात् स्वानुभव का उल्लेख करती है। यह ज्ञान चतुर्विध है। इसका पहला तत्त्व है सत्य, ज्योति और अमरता की खोज जिसके चारों ओर सब कुछ केन्द्रित है। वेद कहता है कि एक ऐसा सत्य है जो बाह्य सत्ता के सत्य से अधिक गम्भीर और अधिक उच्च है, एक ज्योति है जो मानव बुद्धि के प्रकाश से अधिक महान्

और अधिक उच्च है और जो स्वत:प्रकाश और अन्त:प्रेरणा से प्राप्त होती है, एक अमरता है जिसकी ओर आत्मा को आरोहण करना है। उस सबकी प्राप्ति का मार्ग हमें ढूँढ़ना है, इस सत्य और अमरता के साथ हमें संपर्क स्थापित करना है, **ऋतं सपस्तो अमृततम्,** उस **सत्य** में हमें जन्म लेना है, उसमें विकसित होना है, अपनी आत्मा से उस सत्य के लोक में आरोहण करके उसमें निवास करना है। ऐसा करने का अर्थ है अपने-आपको देवाधिदेव के साथ एक कर देना और मर्त्यता से अमरता में पहुँच जाना।

ये सब आदर्श एक मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं :

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवै: । —ऋ.१.६८.२

अर्थात्, ''सब तेरे परम नाम और देवत्व का आस्वादन करते हैं, तेरी क्रियाओं से वे सत्य और अमरत्व का संस्पर्श प्राप्त करते हैं।''

—श्री अरविन्द, ११ : ५५

सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वै: सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् । —ऋ.३.३९.५

अर्थात्, ''दस दशग्वों के साथ इन्द्र ने सत्य को प्राप्त कर अन्धकार में निवास कर रहे सच्चे सूर्य को प्राप्त कर लिया (अथवा, मैं इसका जो अर्थ करता हूँ उसके अनुसार, इन्द्र ने सत्य को, सूर्य को प्राप्त कर लिया)।''

—श्री अरविन्द, १० : १५०

गूळ्हं ज्योति: पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥

—ऋ.७.७६.४

अर्थात् ''हमारे पितरो ने गुप्त ज्योति को ढूँढ़ निकाला, अपने विचारों में सत्य को धारण करते हुए उन्होंने उषा को जन्म दिया॥''

—श्री अरविन्द, १०-१२३

ये सभी मन्त्र उसी एक सत्य और **ज्योति** की ओर संकेत करते हैं।

*उस ज्ञान को खोजने का साधन*

इस **सत्य, ज्योति, दिव्यता** और **अमरता** की उपलब्धि सत्य द्वारा निर्दिष्ट साधनों से ही हो सकती है, किसी अन्य साधन से नहीं। यह बात वेद के एक और मन्त्र में इस प्रकार कही गई है:

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया।
अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः ॥ ऋ. १.४६.११

"सत्य के मार्ग का निर्माण हो गया है जिसके द्वारा हम उस अन्य छोर पर पहुँच जायेंगे द्युलोक के आरपार का समस्त विशाल मार्ग दिखाई दे गया है।"
—श्री अरविन्द, १० : १२४

ये सब सत्य और इन्हें प्राप्त करने के साधन मनुष्य के अंदर विद्यमान हैं क्योंकि उसके अंदर ही गहराई में इनका उद्गम है और है इन्हें उपलब्ध और अभिव्यक्त करने की दैवी शक्ति भी। इस आधारभूत क्षमता को सक्रिय और शक्तिमय बनाया जा सकता है। ऐसा करना ही उन सब प्रार्थनाओं, स्तुतियों और आहुतियों का प्रधान लक्ष्य है जिन्हें हम वेद के मन्त्रों में लेखबद्ध पाते हैं। मनुष्य वैदिक सूक्तों को विविध रूपों में भगवान् की कृपा के प्रति तब और वैसे संबोधित करते हैं जब और जैसे भगवत्कृपा इन सत्यों को उनके समक्ष उत्तरोत्तर प्रकाशित करती है।

अब हम वेद की दूसरी गुह्य शिक्षा या गुह्य वैदिक ज्ञान के दूसरे तत्त्व पर विचार करते हैं।

वेद के मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह विश्व सत्यमय है, भ्रम नहीं। परन्तु यह निम्न कोटि का सत्य है, क्योंकि इस में बहुत अधिक असत्य और भ्रान्ति का मिश्रण है। इस विश्व की यह मिश्रित प्रकृति एक मन्त्र में स्पष्टतया प्रकट की गई है:

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति। —ऋ. ७.६०.५

"**प्रेम, शक्ति** और **पवित्रता** के देव मित्र, वरुण और अर्यमा—ये वे देव हैं जो हमारे अंदर विद्यमान इतने सारे असत्य को विवेकपूर्ण पृथक् करते हैं।"

—श्री अरविन्द, १० : ५३६

*ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यम्*

किन्तु हमारा जगत् कितना ही असत्य से मिश्रित क्यों न हो फिर भी यह सत्य एवं वास्तविक है। यह इसी उपर्युक्त मन्त्र से प्रत्यक्ष है जिसमें मित्र, अर्यमा और वरुण जैसी शक्तियों और दिव्य सत्ताओं का उल्लेख किया गया है जो असत्य का अवलोकन करती हैं और जगत् को अपनी तत्तत् दिव्यताओं, अर्थात् अपने दिव्य गुणों और व्यापारों के द्वारा असत्य से मुक्त कर सत्य की ओर ले जाती हैं। दूसरे शब्दों में, मित्र देवता अपने प्रेम, मैत्री, ऐक्य, सामञ्जस्य एवं समरसता के बल पर वरुण अपनी पवित्रता एवं विशालता की शक्ति का प्रयोग करके और अर्यमा विरोधी शक्तियों के विरुद्ध निर्भयतापूर्वक सतत संघर्ष और संग्राम के द्वारा-सभी अज्ञान, असत्य, मृत्यु और दु:ख के इस लोक को दिव्य और अमर सत्य. ज्योति और जीवन के लोक में रूपान्तरित करने का प्रयास कर रहे हैं। अतएव श्री अरविन्द के अनुसार वेदों का उद्घोष "ब्रह्म सत्य है और जगत् माया, ब्रह्म **सत्यं जगन्मिथ्या**" (विवेकचूडामणि, २०), अद्वैतवादी मायावाद की परम्परागत पुकार नहीं है, बल्कि यह है कि "ब्रह्म सत्य है, जगत् भी सत्य है, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, वह ब्रह्म एकमेवाद्वितीय है, जीव भी ब्रह्म ही है और कुछ नहीं"—"ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं सर्वं ब्रह्ममयं जगत्। एकमेवाद्वितीयं तज्जीवो ब्रह्मैव नापर:।"[१]

*सत्य का अपना धाम*

जब कभी इस प्रपञ्चात्मक जगत् की सत्यता स्वीकार की जाती है, तब उसके साथ इस बात पर भी बल दिया जाता है कि उच्चतम स्तर पर सत्य अपने घर

१. श्रीअरविन्द के सर्वांगीण ब्रह्मवाद को प्रकट करने के लिये हमने "विवेकचूडामणि" के प्रसिद्ध वचन का यथोचित रूपांतर किया है। —लेखक

अर्थात् स्वधाम में निवास करता है। वेदों में चरम सत्ता का वर्णन विविध शब्दों द्वारा किया जाता है, जैसे **ऋतचित्, ऋतस्य सदनम्** आदि द्वारा। हमारे लोक और उच्चतम लोक इन दोनों के बीच में अगणित स्तर हैं, प्रत्येक स्तर की अपनी विशेषता है। परन्तु **सत्य, ऋत** का वह धाम ही परम ज्योति का या सत्य के सूर्य का परमोच्च लोक है। निकटतम व्यञ्जक वाणी जो इसका वर्णन कर सकती है, **सत्यम् ऋतं बृहत्, स्वः, बृहती द्यौः** इन पदों में प्रकाशित की गई है। वेद उस लक्ष्य का मार्ग ढूंढ़ने के लिये मनुष्य को दिशा दिखाता है और प्रकाश प्रदान करता है।

गुह्य वैदिक ज्ञान का तीसरा तत्त्व यह है कि हमारा जीवन कुरुक्षेत्र है, संग्राम-स्थल है जिसमें देवों और असुरों की शक्तियाँ एक दूसरी के विरुद्ध उठी हुई हैं। एक ओर हैं अग्नि, इन्द्र, सूर्य, मित्र, वरुण, भग, अर्यमा आदि सभी देवता जो दिव्य ज्योति की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके विरुद्ध घेरा डाले हुए हैं वृत्र, वल, पणि, दस्युगण, नमुचि, शुष्ण तथा अन्य असुर। अन्धकार की इन शक्तियों को पराजित करने के लिये मनुष्य को ज्योति की शक्तियों का आवाहन करना होता है जो हमारी चेतना में उतर कर हमारे अन्दर का अन्धकार दूर करती हैं और सत्य के भीतर से निर्मित मार्गों के द्वारा हमें अमरता की अवस्थाओं में ले जाती हैं जो ज्योतिर्मयी और मङ्गलमयी हैं। अब तक न जीते गये उन आश्चर्यमय शिखरों पर दिव्य परिपूर्णता हमारी प्रतीक्षा कर रही है।

### *वैदिक यज्ञ और उसका फल*

उस दिव्य परिपूर्णता का साधन है अन्तर्यज्ञ। श्री अरविन्द इस प्राचीन उक्ति के कतई विरोध में नहीं हैं कि "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः", अर्थात्, वेद निः संदेह यज्ञ के प्रयोजन को पूरा करने के लिये अभिप्रेत हैं। श्री अरविन्द कर्मकाण्डीय व्याख्या का निराकरण नहीं करते, पर वे सुस्पष्ट रूप से तथा पूरे बल के साथ घोषित करते हैं, कि वैदिक यज्ञ, अपने सभी पक्षों में तथा सभी व्योरों के साथ, शुद्ध रूप से प्रतीकात्मक है। वह प्रधानतया आन्तरिक है न कि बाह्य, अपनी परिकल्पना में आध्यात्मिक है न कि यज्ञपरक। वैदिक यज्ञ के सबके सब नानाविध अङ्ग यहीं हमारे अंदर हैं। मनुष्य के अंदर ही है अग्नि और

वेदि, आहुति और पुरोहित। उसके अंदर ही है ऋषि, मन्त्र और देवता। उसके अन्दर ही गहराई में विद्यमान हैं यज्ञ का प्रधान पुरोहित ब्रह्मा और उसका सहायक उद्गाता और लयबद्ध सुक्तों का सामगान। इन दिव्य सत्ताओं के साथ हमारे अंदर ही अपनी अन्धकारमय गुफाओं में स्थित हैं देवों के शत्रु, वृत्र, वल तथा अन्य। अन्दर ही कहीं विद्यमान है ईश्वरीय मन का अधिपति इन्द्र देवता, जो वृत्र का विनाश कर सकता है। यज्ञ के सभी अङ्ग—यज्ञ का कर्ता, पुरोहित, आहुति, यज्ञिय इन्धन, घृत, सोमसुरा, पुरोडाश और यज्ञ के फल—इन सबके प्रतिरूप हमारे अंदर ही पाये जाते हैं।

व्यक्ति का जीवन ही इस अन्तर्यज्ञ का कर्ता है, हृदय ही वेदि है, देव या भगवान् लिए मानव-अभीप्सा के रूप में हमारे अंदर प्रज्वलित भगवत्संकल्प ही पुरोहित है। तो फिर यज्ञ की अग्नि के लिये समिधाएँ क्या हैं? मुख्य समिधाएँ तीन हैं—शरीर, प्राण और मन, जो यज्ञ के आरम्भ में डाली जाती हैं, सत्ता के विविध अङ्गोपाङ्ग अन्य समिधाएँ हैं। मानसिक और बौद्धिक प्रकाश की निर्मल धारा घृत का प्रतिरूप है। यह शुद्ध मानसिक ज्योति की अवस्था है। तो फिर आहुति के अन्तर्गत हैं चेतना की सभी नानाविध अवस्थाएँ, ज्ञानात्मक, इच्छाशक्ति-सम्बन्धी और हृद्भावात्मक-विचार तरंगें, संकल्प के आवेग, भावना-तरंगे। सत्य की खोज के लिये आरम्भ और सम्पन्न किये गये सभी कार्य आहुतियों के सिवा और कुछ नहीं।

तो फिर हम पूछ सकते हैं कि ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक हवियों का फल क्या हो सकता है? फल होता है ज्योति, शान्ति, शक्ति, सत्य, आनन्द और अमृतत्व के रूप में भगवत्कृपा की वृष्टि, दिव्य सिद्धि की परिपूर्णता।

जैसे-जैसे भगवत्संकल्प की ज्वाला प्रदीप्त होती है और भगवान् के लिये मानव-अभीत्सा के बढ़ने के साथ-साथ ऊँची उठती है, वैसे-वैसे यजमान भी उत्तरोत्तर उच्च स्तर पर आरोहण करता है। यज्ञ की अग्नि द्युलोक तक, दिव्य चेतना के स्तर तक पहुँचने के लिये सोपान-क्रम से इस भौतिक जगत् से ऊपर की ओर आरोहण करती है। यज्ञाग्नि के इस आरोहण से प्रत्युत्तर के रूप में, द्युलोक का अधिपति इन्द्र अपनी विद्युत्-शक्तियों और मरुतों के साथ भूतल पर उतर आता है और मानव-अभीप्सा को बलवती बनाता है; अर्थात्, ईश्वरीय

मन अपनी ज्योति को अन्नमय कोश में उतार लाता है जहाँ वृत्र का प्रभुत्व है। इन्द्र उसका वध कर देता है और अन्धकार के पर्दों को तथा भौतिक चेतना में निवास करने वाली तिमिरावृत अवस्थाओं को हटा देता है, सीमित करने वाली बाधाओं को छिन्न-छिन्न कर देता है, दिव्य जीवन की यात्रा में आने वाली सभी रुकावटों को पार कर व्यक्ति के आत्माकाश में सूर्योदय को संभव बना देता है। सूर्य सत्य का साक्षात् प्रतीक है। इन्द्र का एक और कार्य भी है जिसे करने के लिए वह पर्जन्य-देवता या वृषा के रूप में प्रकट होता है और अपने साथ ज्ञान, ज्योति, शक्ति तथा अन्य सभी दिव्य ऐश्वर्यों की वृष्टि लाता है।

इस प्रकार हमने वैदिक यज्ञ के प्रतीकात्मक अर्थ का संक्षेप से वर्णन किया है। यह प्रतीकात्मक, आन्तरिक या आध्यात्मिक यज्ञ वेद की भाषा में एक तीर्थयात्रा है, भगवान को प्राप्त करने के लिये ऊँचे से ऊँचे शिखरों पर आरोहण करने के लिये ऊर्ध्वमुख यात्रा है। यह यात्रा संग्राम का रूप धारण कर लेती है, क्योंकि अन्धकार और तमिस्रा की सेनाओं और शक्तियों के साथ निष्ठुर युद्ध करना होता है। यह यात्रा-रूप यज्ञ केवल अग्निदेव की सहायता से ही सुरक्षित रूप में संपन्न किया जा सकता है, जिस देव को अटल रूप से यज्ञ में अग्रभाग में निहित पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है।

परन्तु प्रतीकात्मक, आन्तरिक या आध्यात्मिक यज्ञ के इन सब अङ्गोपाङ्गों का यह अभिप्राय नहीं कि श्री अरविन्द यज्ञपरक व्याख्या का कुछ भी मूल्य न मानते हुए इसका निकारण कर रहे हैं। प्रत्युत उनका विचार यह है कि "...स्वयं ऋग्वेद मानव-विचार के प्रारम्भकाल से आया एक बड़ा भारी लिखित प्रमाण है जो हमारे पास बचा हुआ है ... यह वह काल था जब जाति का आध्यात्मिक और सूक्ष्म, मानसिक ज्ञान स्थूल और भौतिक अलंकारों तथा प्रतीकचिह्नों के एक ऐसे पर्दे के पीछे छुपा हुआ था जो उसके तात्पर्य को अनधिकारी पुरुषों से छिपाये रखता था तथा दीक्षितों के संमुख प्रकट कर देता था।"[१] एक और प्रकरण में वे कहते हैं, "साथ ही यह आवश्यक नहीं कि उसका बाह्य अर्थ केवल पर्दे का ही काम करता हो, यह संभव है कि ऋचाएँ उनके

१. श्री अरविन्द, १० : ५, ६

निर्माताओं द्वारा ऐसे शक्तिपूर्ण वचन मानी गई हों जो न केवल आन्तरिक वस्तुओं के लिये किन्तु बाह्य वस्तुओं के लिये भी शक्तिशाली थे। शुद्ध तथा आध्यात्मिक धर्मग्रन्थ तो केवल आध्यात्मिक अर्थों से अपना वास्ता रखता, किन्तु प्राचीन रहस्यवादी साथ ही वे भी थे जिन्हें गुप्तविद्यावित् कहना चाहिए। वे ऐसे लोग थे जिनका विश्वास था कि आन्तर साधनों द्वारा आन्तरिक ही नहीं किन्तु बाह्य परिणाम भी उत्पन्न किये जा सकते हैं, विचार और वाणी का ऐसा प्रयोग किया जा सकता है जिससे उनके द्वारा प्रत्येक प्रकार की—स्वयं वेद में प्रचलित मुहावरे में कहें तो 'मानुषी और दैवी' दोनों प्रकार की—सिद्धि या सफलता प्राप्त की जा सके।'[१]

*वैदिक रहस्यवादियों की शिक्षाओं का शिखर: एकमेव अद्वितीय सत्*

अन्त में हम वैदिक रहस्यवादियों की शिक्षा के शिखर के रूप में एक ही सद्वस्तु, एक सत् या तद् एकम् का रहस्य पाते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही सत्, "वह एक" व्याप्त और अनुप्रविष्ट है, जिसके अतिरिक्त किसी दूसरे का अस्तित्त्व ही नहीं है। उस एक, तद् एकम् के बाहर और कुछ नहीं है। यह रहस्य, सैंकड़ों मन्त्रों में पुन: पुन: घोषित किया गया है। ऐसे मन्त्रों के बृहत् समुदाय में से कुछ उदाहरण के रूप में नीचे दिये जाते हैं:

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ॥

—ऋ. १.१६४.४६

उसे वे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं और वही दिव्य, सुन्दर पर्णों वाला, सर्वत्र परिपूर्ण, सबका प्रतिपालक परमात्मा है। उस एक ही सत्ता, एकं सत् को ज्ञानदीप्त जन नाना नामों से पुकारते हैं, उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं।

१. श्री अरविन्द, ११ : ८, ९

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।

—ऋ. १०.१२९.८

तब वह एक ही अपने आत्म-विधान से बिना श्वास के जी रहा था; निश्चय ही उससे अन्य कुछ भी नहीं था, न उससे परे ही कुछ था।

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥

—ऋ. ८.५८.२

एक ही अग्नि यहाँ नाना प्रकार से, नाना रूपों में प्रदीप्त है, एक ही सूर्य विश्व में अपने प्रभाव और प्रताप का विस्तार कर रहा है; एक ही उषा इस सब कुछ को उद्भासित कर रही है। निःसंदेह वह एक ही व्यापक रूप से यह सब कुछ बन गया है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ —अथर्व. १३.५.१६-१८

यह देव न दूसरा कहलाता है, न तीसरा और न चौथा। यह न पांचवा कहलाता है न छठा और न सातवां न आठवां, न नवां और न दसवां। जो व्यक्ति इस एकमात्र देव को अकेले ही वर्तमान और अकेले ही सर्वत्र व्याप्त जानता है, वास्तव में वही जानता है।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ —अथर्व. १३.५.२०

यह शक्ति उस परमात्मा में निश्चित रूप से विद्यमान है, ऐसा वह परमात्मा एक ही है, वह अकेले ही वर्तमान है, वह केवल एक ही है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजु. ३२.१

वह ही अग्नि है, वह ही सूर्य है, वही वायु और वही चन्द्रमा है। वही शुक्र और वही ब्रह्म है, वही आपः (जल) है और वही स्रष्टा प्रजापति।

अतएव, सार-रूप में कहें तो, वस्तुतः केवल एक ही परम देवाधिदेव है—सगुण-निर्गुण। अग्नि, मित्र और अन्य देवताओं केवल उसी एक देवाधिदेव के नाम और मूर्तिमती शक्तियाँ हैं। यहाँ हमारे अस्तित्व का प्रयोजन है उस देव को खोजना, प्राप्त करना, उसकी ज्योति को अपने अंदर ग्रहण करना जिसका स्वरूप है सच्चिदानन्द, और उसकी सत्ता और प्रकृति को यहाँ मूर्त रूप देने का यत्न करना। यही वेद की शिक्षा, उसका एकमात्र विचार और गूढ़ अभिप्राय है। परम प्रभु ने एक सरल, सारगर्भित मन्त्र में यह रहस्य प्रकाशित किया है और इस प्रकार हमें हमारी भवितव्यता का आश्वाशन दिया है :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
—ऋ. १.१६४.३९

इस मन्त्र में हमारे दो मूल प्रश्नों का उत्तर दिया गया है कि वेद क्या है और उसका प्रतिपाद्य क्या है : सूक्त और मन्त्र उस परब्रह्म में, परमोच्च और सनातन देवाधिदेव में विद्यमान हैं जिसका शब्दमय शरीर है औम्। सब देवता भी उसी में विराजमान हैं। जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वह भला उन सूक्तों से क्या कर सकता है? यदि मनुष्य उस परम प्रभु और चरम सद्वस्तु से अनभिज्ञ है जिसे इन सूक्तों में दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया गया है, तो इनके निरर्थक शब्द उसके

किस काम के? इसके विपरीत, जिन्होंने उस परम तत्त्व को हृदयंगम कर लिया है, जो उसके साथ एकमय हो गये हैं और सतत उसी में निवास करते हैं वे उसमें सुप्रतिष्ठित हो जाते हैं, सम् आसते ।

**जगन्नाथ वेदालंकार**

# MEANING OF THE VEDA

## The Veda—the Word-form of Brahman

The Indian or rather the Aryan mind is saturated with the idea that the Veda is *Śabdabrahman,* शब्दब्रह्म i.e. the Word-form of Brahman, and therefore as vast and infinite as Brahman itself. This deep-rooted conviction in the Aryan is substantiated by the *Taittirīyabrāhmaṇa,* an ancient commentary on the *Yajurveda.* There we find an interesting story of sage Bharadvāja. It is narrated there that he lived a man's full life-span of a hundred years and devoted himself to the study of the Vedas, but could not finish it. So he prayed to Brahmā, the creator, to extend his life for another full span of a hundred years for the pursuit and completion of his studies. The boon was granted, but this further extension also proved to be insufficient. So the sage asked for yet another lease of a full span of human life. Brahmā, pleased with the sincere devotion, rigorous austerity and diligent pursuit of studies, accorded him the desired boon and the sage engrossed himself once again in studies but the end of the task was nowhere in sight. Thereupon there was a spontaneous utterance from his heart: "अनन्ता वै वेदा:", i.e., "Infinite indeed are the Vedas!" The story suggestively indicates that writers of these Brāhmaṇas, the Vedic commentaries, did not consider the four Vedas as encompassing the entire Vedic lore. According to them, these four Vedas were as if only four handfuls of gems picked up by our creator, Brahmā, from the huge mountain-heap of Divine Knowledge, and given to humanity as necessary for the present cycle of creation.

## The Veda—The Eternal and Infinite Knowledge

In other words, the Veda is not confined to the four books or to any number of books for that matter. In fact, the adherents of other religions, for example, Christians, Muslims, Sikhs and Parsees maintain that God gave them the inspired knowledge in the form of either a divine edict or a book. But the Veda, according to the most ancient tradition, is knowledge infinite and eternal. The word Veda means derivatively knowledge as a direct experience. If the Veda is the word, it is not the written word but spoken, or rather a word heard, *śruti*, as it is called. That means the language of the Veda itself stems from a non-human or impersonal source. Sri Auroindo has said, "The language of Veda itself is *śruti*, a rhythm not composed by the intellect but heard, a Divine Word that came vibrating out of the Infinite to the inner audience of the man who had previously made himself fit for the impersonal knowledge."[1] It follows that the Veda as a Divine Gospel is unbounded, unlimited and infinite. Issuing from the ineffable sources it penetrates and permeates the hearts of Rishis. The self-same Truth has been explained in yet another way by Sri Aurobindo. In *The Synthesis of Yoga* he writes: "The supreme Shastra of the integral Yoga is the eternal Veda secret in the heart of every thinking and living being. The lotus of the eternal knowledge and the eternal perfection is a bud closed and folded up within us. It opens swiftly or gradually, petal by petal ..."[2] This statement of Sri Aurobindo's corroborates and buttresses the traditional conviction that the Veda is

1. Sri Aurobindo, 10:8.
2. Sri Aurobindo, 20:47.

not a book but an eternal and infinite knowledge, embedded in the heart of each individual.

### 'Veda' Means the Knowledge of Saccidānanda

This conviction is also supported by the etymological derivation of the word *'Veda'* which is derived from the root *'vid'*. The famous grammarian Pāṇini indicates three senses to this root according to three different conjugations. *'Vid'* in the fourth conjugation means 'to be or to exist', विद् सत्तायाम्; in the second conjugation it means to know or to be conscious or aware of, विद् ज्ञाने; in the sixth conjugation it means to gain, to attain, विद्लृ लाभे. The word Veda derived from विद् to be or exist would mean Being or Existence, i.e. the *Sat* of the Vedantic *Saccidānanda.* If it is derived from विद् to be conscious, it would mean the *Cit* or Consciousness of the Vedantic *Saccidānanda,* and again derived from विद् to gain or to attain, it would signify the highest gain or attainment, i.e. the bliss or *Ānanda* of the Vedantic *Saccidānanda,* since bliss is the highest gain, the highest thing worth striving for, as it has been rightly said by the wise: "आनन्दान्न परो लाभः", i.e. there is no gain greater than the bliss. Thus the word Veda combines in itself all the three senses of the three roots and connotes *Saccidānanda.* Therefore, etymologiacally Veda is that eternal knowledge which reveals to us the essential self-nature of *Sccidānanda* and the nature of his manifested creation, the evolutionary world-nature and world-action.

### Contents of the Veda

Coming to the contents of the Veda we find that various theories have been advanced on this subject. But we

confine ourselves to Sri Aurobindo's view which is strictly based on his direct self-experience. It is interesting to note here that even before he commenced the study of the Vedas he had direct vision of certain Vedic deities, saw them in their manifest forms, had an insight into their nature and funciton and came to know the symbolic meaning of their names by inspiration. When he was pursuing certain lines of self-development in the way of Indian Yoga, there began to arise in his mind some symbolic names. They pertained to certain psychological experiences which he was privy to regularly. Among those experiences "... there came the figures of three female energies, Ila, Saraswati, Sarama, representing severally three out of the four faculties of the intuitive reason,—revelation, inspiration and intuition. Two of these names were not well known to me as names of Vedic goddesses, but were connected rather with the current Hindu religion or with old Puranic legend, Saraswati, goddess of learning and Ila, mother of the Lunar dynasty.

"But Sarama was familiar enough. I was unable, however, to establish any connection between the figure that rose in my mind and the Vedic hound of heaven, who was associated in my memory with the Argive Helen and represented only an image of the physical Dawn ..."[1]

In course of time he had a direct inner experience of the nature of these three goddesses as also the goddess Dakṣiṇā. He said that these goddesses represented "... the four faculties of the *ṛtam* or Truth-Consciousness,—Ila representing truth-vision or revelation, Saraswati truth-audition, inspiration, the divine word, Sarama intuition, Dakshina the separative intuitional discrimination."[2] In

1. Sri Aurobindo, 10:34.
2. Sri Aurobindo, 10:68.

ancient Indian terminology Iḷā corresponds to *Dṛṣṭi,* Sarasvatī to *Śruti,* Saramā to *Smṛti* and Dakṣiṇā to *Smārta Viveka.*

Thus we have seen that even before studying the Veda, Sri Aurobindo had a vision of the Vedic goddesses and the touchstone of his own inner vision helped in revealing to him their symbolic nature and all this happened in the same way as the Mantras of the Ṛgveda, Yajurveda, Sāmaveda and Atharvaveda dawned in the hearts of the four great seers. Agni, Vāyu, Āditya and Aṅgiras respectively in the begnning of human creation. Therefore, the secret meaning revealed to Sri Aurobindo has the solid backbone of experiential authority. Consequently the method he has evolved to interpret and annotate the Vedic text is the most authoritative, flawless and holistic in its scope.

In another context he has himself clearly said, "Sri Krishna has shown me the true meaning of the Vedas, not only so, but he has shown me a new Science of Philology showing the process and origins of human speech so that a new Nirukta can be formed and the new interpretation of Veda based upon it. He has also shown me the meaning of all in the Upanishads that is not understood either by Indians or Europeans."[1]

## Sri Aurobindo's Way of Interpretation

What then is the way of interpretaion evolved by Sri Aurobindo and what is the secret meaning that emerges by following his method? Indian tradition recognises three distinct ways in which Vedic hymns may be interpreted,—the *ādhyātmika,* that is, the inner subjective, the

1. Sri Aurobindo, 27:433-34.

*ādhibhautika,* that is, the objective material, and the *ādhidaivika,* that is, the one pertaining to gods. The three types of meanings derived by these three methods are also termed *ādhyātmika, ādhibhautika* and *ādhidaivika.* Sri Aurobindo attaches the utmost importance to the first method of interpretation, the spiritual, psychological, esoteric or Yogic method and the sense derived by it is considered by him as the true significance and the kernel of the Vedas.

## Four Ways of Interpretation of the Veda

Apart from these three is a fourth one introduced by European scholars. They approach the Veda with a rationalistic outloook and seek to interpret the Vedic texts and commentaries in their historical perspective briging in comparative religion and philology as aids. Notwithstanding their admiration for the Vedic texts, with the exception of a select few, most tend to brand them as "sacrificial composition of a primitive and still barbarous race." The ritualists have no answer to this line of criticism. On the other hand, they lend their support unconsciously to all such alien attacks by their over-emphasis on rites and ceremonies, neglecting thereby the higher and profounder significance of this ancient legacy. Sri Aurobindo, after a thorough study and critical analysis, impartially states what his own spiritual experience revealed to him, thus: "The ritual system recognised by Sayana may, in its externalities, stand; the naturalistic sense discovered by European scholarship may, in its general conceptions, be accepted; but behind them there is always the true and still hidden secret of the Veda,—the

secret words, *niṇyā vacāṁsi,* which were spoken for the purified in soul and the awakened in knowledge."[1]

## The Psychological Significance of Deities

But whatever may be the method we choose in trying to understand the true significance of the Vedas, it is of paramount importance first to grasp the nature of the Vedic deities. In the esoteric, spiritual interpretation of the Vedas, the deities are psychological powers inherent in universal Nature, that is to say, they are powers of Cosmic Will, Cosmic Mind and other Cosmic, all-penetrating forces with whose help Nature is able to effect her work within us and in the external world. Sri Aurobindo has elaborately dealt with the esoteric nature as well as the pragmatic functions of these universal powers of deities in the second part of *The Secret of the Veda,* entitled "Selected hymns", in which he has commented upon thirteen hymns pertaining to different deities in the manner of traditional commentators. From these luminous explanations we know that Agni is the foundation of what is known as "Will" in psychology, although with a wider and extended significance. "He is the Lord of the Will, the Divine Will-force or Cosmic Willforce." Similarly Indra is the Lord of the Divine Mind, the God-mind; it is he who imparts the light of consciousness. The host of the deities called Maruts are the powers assisting Indra and thus they are the thought-powers and the life-forces assisting the divine mind. Sūrya is the sun of divine truth and Uṣā is the dawn of divine light, divine consciousness and divine knowledge. The Aśvins, twin brothers, Aśvinī-Kumāras of

1. Sri Aurobindo, 10:6.

the Puranas, are the Lords of bliss. Soma is the Lord of delight and immortality. Following the psychological clues thus provided, Sri Aurobindo has amply elucidated the images of many of the ancient Vedic deities. Each one has a special individuality, a form belonging to none else and if sincerely concentrated and meditated upon, can manifest and appear before the seeker and help him. These deities are not merely formless powers or featureless idea-forces of the Supreme Lord, they are the powers of the Supreme emanating in embodied forms and working both in man and the cosmos for well-defined and specific objectives.

## Key-words of the Veda and Their Meanings

The knowledge of the psychological significance of the nature of gods and goddesses is an indispensable key for penetrating the inner temple of the Veda. Besides, there are certain words in the Veda which are used in a sense quite different from what obtains in popular usage. The secret meanings of such words provide another key for opening the sealed gates that lead to the secret of the Veda. To illustrate our point, we mention a few words by way of example. The words गो *(go)*, अश्व *(aśva)*, घृत *(ghṛta)*, अप् *(ap)* recur frequently in the Veda. They are suggetive and symbolic. Again there are words ऋत *(ṛta)*, वन *(vana)*, धी *(dhī)*, रत्न *(ratna)*, रयि *(rayi)*, राधस् *(rādhas)*, क्रतु *(kratu)*, श्रवस् *(śravas)*, कवि *(kavi)*, which admit multiple meanings. But Sri Aurobindo holds that these seminal words should have, each one of them one definite sense throughout the Vedas in order to arrive at a coherent sense falling in line with a mystical interpretation. This view of Sri Au-

robindo is based on his own psycho-spiritual experience and constantly refers back to the testimony of the Vedic text itself.

Thus, in Sri Aurobindo's opinion, the word गो *(go)* invariably expresses the divine light everywhere, the word अश्व *(aśva)* symbolises spiritual force everywhere. घृत *(ghṛta)* denotes clarity of mind or the clear light of the mind, clear mental consciousness. आप: *(āpaḥ)* which in ordinary Sanskrit means stream of water, bears in the Veda the spiritual meaning of the outpouring of *Saccidānanda*, the shower of conscious existence, the "rain of God's bounty", the shower of truth, consciousness and delight from the eternal Divine Being. The word ऋत *(ṛta)* denotes divine truth. वन *(vana)* conveys the sense of delight. रत्न *(ratna)*, रयि *(rayi)*, राधस् *(rādhas)*, all of which express plentitude and prosperity, point to the plentitude of delight, क्रतु *(kratu)* is will-force, श्रवस् *(śravas)* the inner audition of the inspiration, the word of knowledge heard within. कवि *(kavi)* connotes esoterically the seer possessing inner vision. Sri Aurobindo avers that if the inward meanings of certian specific terms in the Veda are fixed carefully, they can be applied throughout the gamut of hymnal literature successfully. In fact, they must be consistently applied everywhere in the Veda, otherwise there will be no end to inconsistency, unremitting chaos, and failure would be the fruits of our folly.

An obvious example of such a chaos is the commentary of Sāyaṇācārya, the famous commentator of the Veda. A great scholar whose commentary is truly monumental, Sāyaṇa had a strong predisposition towards a ritualistic or exoteric interpretation. To the same word he attached

different meanings in different verses to suit the performance of Vedic rites and sacrifices. For example, to the simple word ऋत *(ṛta)* he attributed two different meanings in two separate verses—water, sacrifice.[1] In yet another place he argues that the word is the past passive participle, derivative from the root ऋ *(ṛ)* and so it means 'gone'.[2] And all this is done to avoid the obvious psychological meanings of dynamic truth, right. When all the exoteric meanings do not fit in a certain passage, Sāyaṇa is obliged to accept the pscychological meaning in spite of himself. To conduct the study of the Vedas with such prejudices and preconceptions and to adopt such a laissez-faire treatment of a sacred body of mystic scripture and divine knowledge cannot be conducive to the discovery of its true meanings.

## Dayananda: the First Giver of the Key to the Hidden Meaning

The esoteric meanings of the key-words of the Veda which Sri Aurobindo saw can stand the test of grammar and etymology equally well. Vedic words have derivative and etymological meanings, यौगिकार्थ, not conventional, रूढार्थ nor etymotogical cum conventional, योगरूढार्थ. Swami Dayananda also interprets them etymologically taking his stand on a solid spiritual vision and experience. Sri Aurobindo acknowledges the debt we owe to Dayananda. In his book *Bankim-Tilak-Dayananda* he says Dayananda has given us the key to disengage the meaning of the Veda. This key is nothing but that of etymological inter-

1. Rig. 1.34.10, 1.65.5.
2. Rig, 1.65.2.

pretation. That alone can unravel the mystic secret of this most ancient scripture.

We have indicated above the psychological nature and function of the Vedic gods and goddesses on the basis of derivative meanings of certain special words. The crucial question we must address ourselves to next is: what is the mystic Knowledge or doctrine that emerges from the Veda if we follow this way of interpretation?

## The Tradition of a Secret Meaning

Sri Aurobindo accepts the existence of mystic schools and mystic Knowledge in Vedic and pre-Vedic times as we find in the case of Egypt and Greece. In his book *Hymns to the Mystic Fire,* he writes: "... there was indeed almost everywhere an age of the Mysteries in which men of a deeper knowledge and self-knowledge established their practices, significant rites, symbols, secret lore within or on the border of the more primitive exterior religions. This took different forms in different countries; in Greece there were the Orphic and Eleusinian Mysteries, in Egypt and Chaldea the priests and their occult lore and magic, in Persia the magi, in India the Rishis."(Foreword, p. 3-4)

"... the tradition of a secret meaning and a mystic wisdom couched in the Riks of the ancient Veda was as old as the Veda itself." (Ibid., p.5).

## The Fourfold Mystic Knowledge

The secret meaning and the mystic knowledge which had been lost have again been discovered by following Sri Autobindo's way of interpretation which constantly refers to his direct self-experience. This knowledge is fourfold. The first principle around which all is centred is the

seeking after Truth, Light, Immoratality. The Veda says there is a Truth deeper and higher than the truth of outward existence, a Light greater and higher than the light of human understanding which comes by revelation and inspiration, there is an Immortality towards which the soul has to rise. We have to find our way to that, to get in touch with this Truth and Immortality, *ṛtaṃ sapanto amṛtam,* to be born into the Truth, to grow into it, to ascend in spirit into the World of Truth and live in it. To do so is to unite ourselves with the Godhead and to pass from mortality to immortality.

All these ideals are set forth in the latter half of one couplet thus:

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवै: ।

*bhajanta viśve devatvaṃ nāma*
*ṛtaṃ sapanto amṛtam evaiḥ.*
(*Rig.* 1.68.2),

"All enjoy the Name, the Godhead; by the movements they touch Truth and Immortality."—Sri Aurobindo, 11:55

And in another mantra,

सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वै: सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् ॥

*satyaṃ tad Indro daśabhir daśagvaiḥ,*
*sūryaṃ viveda tamasi kṣiyantam.*
(*Rig.* 3.39.5)

"With the ten, the Dashagwas, Indra found the true Sun (or, as I render it, the Truth, the Sun), dwelling in the darkness."—Sri Aurobindo, 10:150

गूळहं ज्योति: पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥

*Èūḷhaṃ jyotiḥ pitaro anvavindan-*
*tsatyamantrā ajanayannuṣāsam* (*Rig.* 7.76.4)

"Our fathers found out the hidden light, by the truth in their thoughts they brought to birth the Dawn."
—ibid., 10:123

All these mantras point to the self-same Truth and Light.

**The Means to Find Out That Knowledge**

The realisation of this Truth, Light, Divinity and Immortality is possible by no other means than those dictated by that Truth. This is stated in another Mantra of the Veda thus:

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया ।
अदर्शि वि स्रुतिर्दिव ॥

*abhūdu pārametave panthā ṛtasya sādhuyā.*
*adarśi vi srutirdivaḥ.* (*Rig.* 1.46.11).

"The path of the Truth has come into being by which we shall travel to that other shore; seen is all the wide way through heaven."—Sri Aurobindo, 10: 124

All these truths and the means to attain to them are inherent in man because deep within him is their source and the divine power to realise and manifest them. This fundamental capacity can be activised and made dynamic. To do so is the principal object of all the prayers and psalms and offerings we find embodied in the Mantras of the Veda. The hymns are addressed to the Divine Grace variously as and when that Grace progressively reveals these truths to men.

We now come to the second mystic doctrine or the second principle of the mystic Vedic knowledge.

It is clear from the Vedic text that this universe of ours contains a truth and is not an illusion. But this is a truth of an inferior order, intertwined as it is with much falsehood and error. The mixed nature of this world is clearly brought out in a Mantra:

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति ।

*ime cetāro anṛtasya bhūrermitro aryamā varuṇo hi santi.*
(*Rig.* 7.60.5).

"These are they that discern and separate all the much falsehood in us, they the Lords of Love and Strength and Purity." —Sri Aurobindo, 10: 536.

**Brahma Satyaṁ Jagat Satyam**

But howsoever mingled with falsehood our world may be, it is yet real. This is evident from this very Mantra in which there are mentioned powers and presences like Mitra, Aryaman and Varuṇa who discern the falsehood and lead the world out of it by their respective divinities, i.e. by their divine qualities and functions. In other words, Mitra, by virtue of his love, friendship, unity, harmony and concord, and Varuṇa, applying his purity and vastness, and Aryaman, by his fearless and continued battle and war against adverse forces are all striving to transform this world of ignorance and falsehood, death and suffering, into a world of truth and light and life, divine and immortal. Hence the clarion call of the Vedas, according to Sri Aurobindo, is not *'Brahma satyaṁ jaganmithyā' (Viveka-Cūḍāmaṇi,,* 20*)*, 'Brahman is true, the wrold is an illusion', the traditional call of the non-dualistic illusionism, but *'Brahma satyaṁ jagat satyaṁ sarvaṁ brahmamayaṁ*

*jagat, ekamevādvitīyaṁ tajjīvo brahmaiva nāparaḥ.*[1] 'Brahman is real, the world is real, the whole world is full of Brahman; it is all one without any division, the soul too is that Brahman and naught else.'

## Truth's Own Home

Whenever the reality of this phenomenal world is admitted, it is at the same time stressed that in the uppermost level Truth resides in its own home, its self-abode. The ultimate reality is described in the Vedas in various words, such as *ṛtacit, ṛtasya sadanam.* Between these two worlds, ours and the highest, there are innumerable gradations, each grade having its own speciality. But that home of Truth, *Ṛta,* is alone the highest world of supreme Light or of the Sun of Truth. The nearest approximation which may describe it is given in the words *satyaṁ ṛtaṁ bṛhat, svaḥ, bṛhatī dyauḥ.* The Veda guides and enlightens man in finding his way to that goal.

The third principle of the mystic Vedic knowledge is that our life is a Kurukshetra, a battlefield where the powers of the Gods and Asuras are pitted against each other. On the one side are Agni, Indra, Sūrya, Mitra, Varuṇa, Bhaga, Aryaman—all deities representing powers of divine Light. Entrenched against them are Vṛtra, Vala, Paṇi, Dasyus, Namuci, Shushna and other Asuras. To defeat these powers of darkness one has to invoke the powers of Light which descend into our consciousness, dispel the darkness within us and, through paths hewn out of truth, lead us to states of Immortality, states that are

1. Adapted by the author from 'Viveka-Cūḍāmaṇi' so as to express the integral Brahmavāda of Sri Aurobindo.

luminous and beneficent. The divine fulfilment awaits us in those miracled summits yet unwon.

## Vedic Sacrifice and Its Fruit

The means to that divine fulfilment is the inner sacrifice. Sri Aurobindo is not at all opposed to the ancient saying, *Vedā hi yajñārthamabhipravṛttāḥ,* the Vedas are indeed intended to serve the purpose of sacrifice. Sri Aurobindo does not dismiss ritualistic interpretation, but declares unequivocally and with undiluted emphasis that the Vedic sacrifice, in all its aspects and details, is purely symbolic. It is pre-eminently esoteric and not exoteric, psychological and not ritualistic in its conception. All the various parts of the Vedic sacrifice are here within us. In the human being there is the fire, the altar, the offering and the priest. Within him is the Rishi, the Mantra and the Godhead. Deep within him is the chief priest of the sacrifice, *Brahmā,* and his assistant, *udgātā* and the chant of the hymnal music. Along with these divine presences are lodged within us the enemies of gods, Vṛtra, Vala and others, in their dens of darkness. Seated somewhere within, is the Divine Mind, the god Indra, who can destroy Vṛtra. All the elements of the sacrifice, the performer of the sacrifice, the priest, the offering, the sacrifical fuel, the clarified butter, Soma wine, Puroḍāśa and the fruits of the sacrifice find their counterparts within.

The individual soul is the performer of the sacrifice, the heart is the altar, the Divine Will burning within in the form of human aspiration for the Deva, the Divine is the priest. What are the samidhs or fuels for the sacrificial fire? There are three principal ones—the body, the life-force and the mind, which are the initiating fuels, the

various parts of the being are the others. The clear stream of the mental and intellectual light corresponds to the clarified butter, *ghṛta*. This is the state of pure mental light. The offering, however, includes all the various states of consciousness, cognitive, conative and emotive—the thought-waves, the impulsions of will, the feeling-currents. All the actions undertaken and performed in the pursuit of truth are nothing else but offerings.

What then, one may ask, can be the fruit of such subtle inner offerings! It is the shower of Grace in the form of light, peace, strength, truth, delight and immortality, the plenitude of divine fulfilment.

As the flame of divine will is kindled and waxes higher and higher with the growth of human aspiration for the Divine, the performer of sacrifice also ascends higher and higher. The sacrificial fire climbs up from this material world by stages to reach heaven, the plane of divine consciousness. In response to this ascent of the sacrificial fire, Agni, Indra the Lord of Heaven with his lightning-forces, the Maruts, descends to earth and renders the human aspiration fruitful; the God-mind brings down its light to the material sheath where Vṛtra holds sway. Indra kills him and removes the veils of darkness and obfuscations native to physical consciousness, shatters the limiting barricades, crosses all hurdles in the march towards the divine life and renders possible for the sun to rise on the firmament of the individual soul. The Sun is the direct symbol of Truth. Indra has another function when he appears in the form of the raingod, or Vṛṣan, and brings with him showers of knowledge, light, power and all other divine plenitudes.

Thus we have briefly stated the symbolic significance of the Vedic sacrifice. This symbolic, inner or esoteric sacri-

fice is, in the language of the Veda, a pilgrimage, a journey upwards to higher and higher ascensions for the attainment of the Godhead. This journey assumes the nature of a battle, since a relentless war has to be waged against the forces and powers of darkness and obscurity. This pilgrim-sacrifice can be safely accomplished only with the help of the God Agni, who is invariably kept as Purohita, as the priest set in front in the sacrifice.

But all these details of a symbolic, inner or esoteric sacrifice don't mean that Sri Aurobindo dismisses the ritualistic interpretation as of no value wahtsoever. Rather he is of the view "... the Rig-veda is itself the one considerable document that remians to us from the early period of human thought ... when the spiritual and psychological knowledge of the race was concealed ... in a veil of concrete and material figures and symbols which protected the sense from the profane and revealed it to the initiated."[1] In another context he says, "At the same time the exoteric sense need not be merely a mask; the Riks may have been regarded by their authors as words of power, powrful not only for internal but for external things. A purely spiritual scripture would concern itself with only spiritual significances, but the ancient mystics were also what we would call occultists, men who believed that by inner means outer as well as inner results could be produced, that thought and words could be so used as to bring about realisations of every kind,—in the phrase common in the Veda itself,—both the human and the divine."[2]

1. Sri Aurobindo, 10:5, 6.
2. Sri Aurobindo, 11:8, 9.

## The Summit of the Teachings of the Vedic Mystics : the One Reality without Second

Finally as the summit of the teaching of the Vedic mystics comes the secret of the one Reality, *ekaṁ sat,* or *tad ekam.* The entire universe is pervaded and penetrated by the One Existence, That One, which is without a second. There is nothing exterior to That One. This secret has been repeatedly declared in hundres of Mantras. A few out of the mass of such ones are cited below by way of example:

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
*Rig.* 1.164.46

Indra, Mitra, Varuṇa, Agni, they call him; and he is also the heavenly Garutmān of lovely plumage. The One Existent the illumined ones call variously, call it Agni, Yama, Mātariśvan.

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।
*Rig.* 10.129.8

Tha one lived without breath by his self-law, there was nothing else nor aught beyond it.

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
*Rig.*8.58.2

The same Agni is kindled here in various ways in various forms; only one Sūrya is spreading his influence, his valour in the universe; only one Uṣā is enlightening all this. Doubtless that One alone has become all this.

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥

*Atharava.* 13.5.16-18

This God is designated not as the second nor the third not even the fourth. He is neither the fifth nor the sixth not yet the seventh. Eighth he is not nor ninth not yet the tenth. One who understands this sole God as existing and pervading alone is the one who knows truly.

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥

*Atharva.* 13.5.20

This power certainly abides in the God. Such a God is One. He alone exists. he alone is.

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

*Yajur.* 32.1

He alone is Agni He the Sūrya. He the Vāyu and He alone is the Moon. He is Śukra and He is Brahman, the Waters are He and He the Lord, the creator.

To summarise then, there is truly speaking only One supreme godhead personal-impersonal. Agni, Indra, Mitra and others are but the names and embodied powers of that Godhead. The reason for our existence here, our raison d'être, is to seek that Deva, deity, to realise, receive into ourselves His light, the light of that whose nature is *Saccidānanda* and try to embody here his

being and nature. This alone is the teaching of the Veda, its sole view and its recondite meaning. The supreme Lord reveals this secret and thus assures us of our destiny in a simple Mantra which is pregnant with meaning:

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

*Rig.* 1.164.39

In this Mantra, our two original questions, namely, what the Veda is and what it contains, are answered: the hymns and the verses abide there in the Parabrahman, the supreme and eternal Godhead whose sound-body is Om. All the gods abide there. What can one do with the hymns who knows not that Brahman? If one is ignorant of the Supreme and the ultimate Reality that is affirmed in these hymns, of what use to him are the empty words therein? On the contrary, those who have grasped that Reality, who are united with it and constantly abide in it, are established therein, *Saṃ āsate.*

JAGANNATH VEDALANKAR